

चतुर्थ अध्याय

तुलसी के काव्य में धर्म और नीति
का स्वरूप

“तुलसी के काव्य में धर्म और नीति का स्वरूप”

धर्म शब्द का अर्थ बहुत विविध और व्यापक है। एक ही निश्चित और सीमित अर्थ में ‘धर्म’ शब्द का प्रयोग नहीं होता। ‘धर्म’ शब्द का सबसे व्यापक अर्थ उसके व्याकरणगत मूल धातु ‘घृ’ पर अश्रित है। ‘घृ’ का अर्थ धारण करना है।¹ ‘घृ’ धातु से निर्मित होने के कारण ‘धर्म’ का अर्थ धारण करने वाला है। जो धारण है, वही धर्म है। अथर्ववेद ओज, तप, सहन शक्ति, बल, वचन—पालन, जितेन्द्रियत्व एवं सौन्दर्य को धर्म मानता है।² महींष कणाद अभ्युदय एवं निःश्रेयस को धर्म कहते हैं।³ भौतिक समृद्धि एवं सुख का नाम ही अभ्युदय है, मोक्ष एवं आधात्म की प्राप्ति का नाम निःश्रेयस है।

धर्म उन सिद्धान्तों तत्त्वों तथा जीवन—प्रणाली को कह सकते हैं जिससे मानव जाति परमात्मा—प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके, साथ ही मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जन्म—मरण के चक्र से निकलकर सुख का अनुभव कर सके।⁴ मनु स्मृति राग—द्वेष से परे विद्वानों द्वारा अनुष्ठित कार्य को धर्म कहती है। भगवान ‘मनु’ ने धर्म के दस लक्षण बताये हैं। जो इस प्रकार हैं— धृति, क्षमा, दम, अस्तेय शौच, इन्द्रिय—निग्रह, घी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि।

श्रुतिःक्षमा दमोडस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।⁵

याज्ञवल्क्य के अनुसार धर्म के नौ साधन हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दम, दया, शान्ति।⁶ वेद प्राणि हितों धर्मों ह्यधर्मस्तद् विपर्ययः धर्म किसी अलौकिक और अतीन्द्रिय शक्ति के भय का (भागवत) एक मानवीय प्रत्युत्तर है। यह व्यवहार की अभिव्यक्ति अथवा परिस्थितियों से किए गये अनुकूलन का वह रूप है जो अलौकिक शक्ति की धारणा से प्रभावित होता है।⁷ रामचरित्रमानस में तुलसीदास ने धर्ममय रथ रूपक से जीवन को सफल बनाने वाले और सामान्य रूप से धर्म के लक्षणों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार— शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, दम (जितेन्द्रिय), परोपकार, ईश्वर—भजन, वैराग्य, संतोष, दान, बुद्धि, श्रेष्ठ विज्ञान, निर्मल और स्थिर मन, शम आदि दम और शौचादि नियम, ब्राह्मणों और गुरुओं की पूजा को धर्म बताया है।⁸ धर्म वस्तुतः वह आन्तरिक तत्त्व है जो किसी भी व्यक्ति को देश और काल के अनुसार श्रेष्ठ आचरण के लिए प्रेरणा देकर समाज में रहने योग्य बनाता है। कभी—कभी धर्म शब्द से सम्प्रदाय अर्थ भी ग्रहण कर लिया जाता है। एक परम सत्ता

के अस्तित्व को मानकर चलना धर्म और संसार के इस सुख दुखात्मक जंजाल से मुक्ति पा सकना ही धर्म का उद्देश्य है। इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए विभिन्न युगों में विचारकों तथा धर्म गुरुओं ने जो मार्ग सुझाए, वे सम्प्रदाय हैं। मुण्डे—मुण्डे गीतर्भिन्ना के अनुसार उपासकों ने अपनी—अपनी रुचि के अनुरूप एक ईश्वर के भिन्न—भिन्न रूप मानकर उनकी उपासना की और इसी से एक धर्म के अनेक सम्प्रदाय हो गए। किन्तु एक धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों को धर्म न कहकर धार्मिक मार्ग धार्मिक सम्प्रदाय तथा 'धार्मिक अवधारणा' कहना चाहिए। ऋग्वेद में भी धर्म की विभिन्न धारणाएँ उपलब्ध होती हैं। ऋषि जिस देवता की स्तुति करता है, उसी को उत्तम विशेषण से सुशोभित करके ईश्वर मान लेता है। एक सद्धिप्रा, बहुधा वर्दान्त इसी अनेकता में एकता का उद्घोष है, जिसे परवर्ती युग में व्यास ने और अधिक स्पष्ट कर दिया है।⁹ देवर्षि नारद ने सत्य, दया, तपस्या आदि सामान्य धर्म बतलाए हैं। महर्षि व्यास धारण सामर्थ्य के कारण ही इसे धर्म मानते हैं। इसी सामर्थ्य के कारण ही इसे धर्म मानते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि धर्म उन सार्वभौमिक सिद्धान्तों के नाम हैं जिनके अनुसार आचरण करते हुए व्यक्ति समाज में अपना और दूसरों का हित साधने में समर्थ हो सकता है।¹⁰ धर्म को समाज अथवा व्यक्तियों में प्रचार की भी आवश्यकता होती है जिसका माध्यम विद्वान व्यक्ति तथा उनके द्वारा लिखा गया साहित्य होता है अर्थात् धर्म साहित्य के रूप में समाज में रहता है।

साहित्य और धर्म :-

हितेन सहितम् तस्य भावा साहित्य अर्थात् हित की भावना से युक्त ही साहित्य होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव हित ही साहित्य का प्रमुख लक्ष्य होता है। 'हजारीप्रासद द्विवेदी ने कहा भी है कि " मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो लोग बाग—जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, परमुखपेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तजोद्धीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दुख कातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य में मुझे संकोच होता है।¹¹ द्विवेदी जी का यह कथन यह स्पष्ट करता है कि मानवहित साहित्य का प्रमुख लक्ष्य है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद के अनुसार **'यतोऽभ्युदयस्य निःश्रेयस्य सिद्धिः सधर्मः'** अर्थात् जिसके अभ्युदय से निःश्रेय की सिद्धि हो वह धर्म है।¹² इस प्रकार से मानव के कल्याण साधन के लिए ही धर्म होता है और साहित्य का भी यही लक्ष्य है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साहित्य और धर्म का अटूट सम्बन्ध है और साहित्य किसी न किसी रूप से मानव धर्म को ही अपना लक्ष्य बनाता है।

एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि साहित्य और धर्म का ऐसा

सम्बन्ध है जो कभी पृथक नहीं हो सकता। धर्म की उपेक्षा करके जो साहित्य लिखा जायेगा समाज में उस साहित्य का कोई मूल्य नहीं होगा। साहित्य और धर्म के अभाव में जीवन की सरसता समाप्त हो जाती है। मानव हृदय को मृदुल एवं पावन बनाने की क्षमता धर्म में ही होती है। मानव हृदय में उदारता एवं विशालता का आदान धर्म ही करता है। इसी कारण साहित्य का भी धर्म से अनुप्राणित होना वांछनीय है। साहित्यकार की धार्मिक प्रवृत्ति काव्य को लोक कल्याणकारी बना देती है। प्रत्येक साहित्यकार की कुछ धार्मिक आस्थाएँ एवं विश्वास होते हैं जिनके माध्यम से वह सत्काव्य की सृष्टि करता है। साहित्य जब धर्म से अनुप्राणित होता है, तब उनमें मानवीय भावनाएँ एवं आदर्श सुरक्षित रहते हैं। वस्तुतः धर्म मानवीय स्वभाव पर शासन करता है, न कर सके तो मनुष्य और पशु में भेद ही क्या रह जाये? धर्म में संस्कार और सदविचारों की प्रमुखता रहती है। सदविचारों के अभाव में मनुष्यों का कोई अस्तित्व नहीं रहता और बिना धर्म संस्कार के सदविचार स्थिर नहीं रहते।

तुलसी काव्य में धर्म का स्वरूप :-

तुलसीदास ने जिस समन्वित धर्म का रूप अपने साहित्य में वर्णित किया है, उसकी उस समय अत्यन्त आवश्यकता थी। वह समय आसुरी सम्पत् से भरपूर था और दैवीसम्पत् कोरे आड़म्बर तथा शुष्क ज्ञान की कारा में परिबद्ध हुई कर्महीन होकर सिसकियाँ भरती हुई कराह रही थी। ऐसी विकट स्थिति में तुलसी ने श्रुति-चरणोद्भूत धर्म जाह्वी की सरसता, परिवत्रता, विमलता तथा मज्जन महिमा की उन्होंने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और उसकी दिव्यता तमथा उपादेयता का अपनी रचनाओं के अनेकशः स्थलों में विशद वर्णन किया है। उनके समस्त साहित्य में विशेषतः भक्त-स्वभाव वर्णन, धर्मरथ वर्णन, इसके अलावा उन्होंने माता-पिता, पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, भाई, राजा-प्रजा आदि प्रसंगों में ज्ञान-विज्ञान, भक्ति, धर्म, सदाचार एवं स्वयं भगान से संबंधित आत्मवोध तथा आत्मो-उत्थान के सभी प्रकार के श्रेष्ठ साधनों का सजीव चित्रण किया है। उनके काव्य प्रवाह में उल्लसित धर्म-कुसुम मात्र कथ्य नहीं, बल्कि अलभ्य चरित्रय है। जो विभिन्न उदात्त चरित्रों के कोमल वृत्तों से जगती तल पर आमोद बिखेरते हैं। सत्यतः स्वयं भगवान ही धर्म के परम गुण रहस्य हैं। वे ही समस्त धर्मों के मूल कारण हैं। तुलसी के इष्टदेव भगवान श्रीराम स्वयं धर्म का परमोज्ज्वल विग्रह रूप है— 'रामोविग्रहवान धर्मः'।¹³

इस प्रकार तुलसी के राम का अवतार ही धर्म की मर्यादा की स्थापना करने के लिए हुआ था। किष्किंधा काण्ड में बालि मुख से तुलसी ने कहलवाया है—

धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मॉहि व्याध की नाई।¹⁴

गीता में भी भगवान ने धर्म की रक्षा के लिए युग—युग में अवतार धारण किया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशय च दुष्कृताम

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे—युगे।¹⁵

अतः तुलसी साहित्य में हमें विभिन्न स्थानों पर धर्म का उल्लेख मिल जाता है। धर्म की वेदी पर अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने, सिवि, दधीचि, हरीशचन्द्र, रतीदेव, बलि आदि महापुरुषों के दृष्टांतों से धर्म की प्रतिष्ठा प्रतीत होती है। राम और रावण के युद्ध में विभिषण द्वारा असमंजस होने पर तुलसी के राम धर्ममय रथ रूपी रूपक से जीवन को सफल बनाने और जीवन में विजय दिलाने वाले सामान्य रूपी धर्म का उल्लेख करते हैं— कि हे सखा, शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, दम (जितेन्द्रियता), परोपकार, ईश्वर, भजन, वैराग्य, संतोष, दान, बुद्धि श्रेष्ठ विज्ञान, निर्मल और स्थिर मन, शम, दल, शौचादि नियम, ब्राह्मण और गुरुओं की पूजा को धर्ममयी रथ है, उसे इसे काष्ठरूपी रथ की आवश्यकता नहीं है।¹⁶ तुलसी के अनुसार धर्म की परीक्षा संकट में होती है, कि व्यक्ति धर्म में कितनी आस्था है—

धीरज धर्म मित्र अरुनारी। आपद काल परिखि अहि चारि।¹⁷

धर्म के लिए श्रद्धा—विश्वास का होना भी वांछनीय है। धर्म विश्वास पर ही आधारित है। इसके बिना धर्म उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार पृथ्वी बिना गंध पा सकना।

श्रद्धा बिना धरमु नाहि होई। बिनु महि गंध पावही कोई।¹⁸

गोस्वामी तुलसीदास ने 'परमधरम श्रुतिविदित अहिंसा' कहकर अहिंसा को परम धर्म स्वीकार किया है उनके मतानुसार परस्वार्थ से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है।¹⁹ एक अन्यत्र स्थान पर तुलसी ने 'क्षमा' को धर्म और आचार के विविध रूपों में क्षमा के स्थान को ऊँचा माना है। तुलसी ने पराये धन पर दृष्टि डालने वाले को अधर्मी कहा है। 'रामचरित्रमानस' में भरत पराये धन पर दृष्टि डालने वाले को पापी की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि पराया धन भीषण विषधर है। तुलसीदास सत्य को परम धर्म की संज्ञा देते हुए कहते हैं—

**धरम् न दूसर सत्य समाना ।
आगम निगम पुराना बरवाना ।।²⁰**

वे सत्य अन्य धर्मों का मूल स्वीकार करते हैं और असत्य को पातक पुंज कहते हैं। तुलसीदास तत्कालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था से अत्यन्त दुखी है क्योंकि उस समय नर-नारी दम, दान और दया से रहित हो गये हैं तुलसी के सभी पात्र राम, लक्ष्मण, भरत, जनक, भारद्वाज, नारद आदि दयालु हैं। तुलसी के काव्य में परोपकार को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है। अठारह पुराणों के सार धर्म का निष्कर्ष बताते हुए महर्षि वेदव्यास ने परोपकार को समस्त पुण्यों का मूल तथा पर-अपकार को समस्त पापों की जड़ कहा है।²¹ तुलसी भी परोपकार को प्रबल समर्थक हैं और उसे परम धर्म मानते हुए कहते हैं कि :-

“परहित धर्म नाहि भाई । पर पीड़ा सम नाहि अधमाई ।।²²

दूसरों का हित ही परोपकार कहलाता है। परोपकार के समान कोई धर्म नहीं है तथा दूसरों के दुख पहुँचाने के समान कोई नीच कर्म (पाप) नहीं है। अहिंसा को भारतीय शास्त्रों में परम धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है, दूसरे जीवों को अपने स्वार्थ की खातिर पीड़ित करना या मारना हिंसा है तथा इसके विपरीत आचरण, उन पर अनुकम्पा का भाव दिखाना ही अहिंसा का पालन है। आधुनिक युग में भी गाँधीजी आदि महापुरुषों ने भी अहिंसा पर अधिक बल दिया था। 'अहिंसा परमोधर्म' के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए तुलसी ने कहा है-

परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा । पर निंदा सम अधन गरीसा ।।²³

पाप-पुण्य के विषय में वैसे तो आज तक कोई निश्चित परिभाषा नहीं हो पाई है, फिर भी समाज में नियंत्रण हेतु कुछ कठोर नियम अवश्य प्रचलित रहे हैं। वैसे प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, कोई किसी को बिना अपराध के दण्ड नहीं दे सकता। हाँ, किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ऐसा अधिकार मिल जाता है। स्त्री जाति के प्रति अनीति, दुराचार करने पर वह दण्ड का भागी बन जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने उक्त कथन के औचित्य की पुष्टि की है। बालि ने अपने छोटे भाई सुग्रीव की पत्नी को बलात हड़प लिया था। सुग्रीव से मैत्री होने पर श्रीराम ने उसे दण्ड का भागी बनाकर संग्राम-स्थल पर बालि के पूछने पर कि आपने मुझे किस कारण मारा? तो श्रीराम ने उत्तर देते हुए उसे उस सामाजिक दृष्टि से समाज के हित में धर्म का यथार्थ प्रत्युत्तर

दिया है—

अनुज वधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी।

इन्हहि कुदृष्टि विलोकहि जेही। ताहि बधे कुछ पाप न होई।।²⁴

यानि छोटे भाई की पत्नी, बहिन, बेटी की पत्नी तथा कन्या चारों समान होती हैं। इनको जो बुरी दृष्टि से देखता हो, उसको दण्डित करने में कोई अधर्म नहीं है। गुरु का सदैव सामान्य पद रहा है। कबीर ने भी गोविन्द की अपेक्षा गुरु को पूज्य माना है। गुरु के साथ छिपाव करने से हृदय की शुद्धि नहीं और न ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है अर्थात् शिष्य का कर्तव्य तथा धर्म भी है कि वह, वचन कर्म से गुरु के प्रति श्रद्धा रखें और स्वयं जाग्रत बना रहे। जो शिष्य गुरु के प्रति ईर्ष्या भाव रखते हैं वे नरक मार्ग होकर दारुण यातनाएँ सहन करते हैं—

जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं। रौरबकोटि जुग नरकहि परहिन।²⁵

शिष्य के धर्म को बतलाते हुए तुलसीदास जी गुरुओं के शिष्य के प्रति भी धर्म पर प्रकाश डाला है— उन्होंने कहा है।

हरइ शिष्य धन शोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महं परई।²⁶

इस प्रकार उन्होंने गुरुओं को भी उनके धर्म से अगवत कराया है जो आधुनिक गुरुओं पर यह वाक्य सटीक बैठता है। तुलसी की कृति 'मानस' में स्वामी—सेवक के धर्म का अच्छा चित्र खींचा गया है। सच्चे सेवकों में हनुमान अग्रण्य है। स्वामी के आदर्श रूप में श्रीराम है। तुलसी की दृष्टि में सेवक धर्म सबसे कठिन धर्म है। जहाँ सेवक स्वामी की ही इच्छा सर्वोपरि रखता हुआ उसी के भरोसे रहना हो ऐसी स्थिति में स्वामी को माँ की भाँति उसका पालन पोषण करना उसका धर्म है।²⁷ आज तो इस भावना से युक्त न तो स्वामी है न सेवक है। वस्तुतः दासत्व किसी को भी स्वीकार नहीं। फिर इन भावनाओं के अनुकरण का प्रयोजन ही क्या? फिर भी आदर्श दृष्टान्त के अन्तर्गत इसकी उपयोगिता है। तुलसी ने मित्र के धर्म पर भी प्रकाश डाला है कि सच्चा मित्र वही है जो अपने मित्र के दुख को अपने दुख से अधिक समझे।

निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रहीं दुख मेरु समाना।²⁸

इसके विपरीत जो मित्र के दुख से दुखी नहीं होते वे व्यक्ति ताज्य हैं। तुलसीदास जी ने नारी धर्म की भी सफल स्थापना की है और समाज के लिए उसे अतिशय उपादेय माना है। गृहस्थ—जीवन—रथ के दो चित्रों में से एक चक्र स्वयं नारी

है। यह जीवन-प्रगति की विधायिका है। इसी कारण हमारी संस्कृति ने नारी को अर्द्धांगिनी, धर्म-पत्नी, जीवन-संगिनी, देवी, गृह लक्ष्मी तथा संजीवनी शक्ति के रूप में देखा है, जिस प्रकार सृष्टि लीला-विलास में पुरुष प्रकृति परस्पर संयुक्त होकर विकास-रचना करते हैं, उसी प्रकार गृह या समाज में नारी-पुरुष के प्रीतिपूर्वक सुखमय संयोग से धर्म-कर्म का पुण्यमय प्रसार होता है। सत्यतः रीति, प्रीति और धर्म की पालिका स्त्री ही है। महाभारत में कहा गया है कि नारी पुरुष की श्रेष्ठ गति है।²⁹ तुलसीदास की दृष्टि नारियों के लिए एकमात्र धर्म पति की सेवा करना तथा उसके अनुकूल रहना ही उत्तम धर्म है। साध्वी स्त्री के लिए पति की इच्छाओं को पूर्ण करना, सत्य विनत, और प्रिय वचनों से प्रीतिपूर्वक पति की सेवा करना, प्राप्त वस्तुओं से संतुष्ट रहना, सभी कार्यों के विधान में चतुर और धर्मज्ञ होना तथा अपने कर्तव्य में सदैव सावधान रहना परमआवश्यक है। जो नारी स्वभाव और आचरण में उत्तम है, अपने पति को देव-तुल्य समझती है, कभी व्यर्थ क्रोध नहीं करती, श्रेष्ठ वृत का पालन करती है, अनुराग-प्रेरित हो सदा पति के अधीन रहती है, गृह और हृदय को पवित्र रखती है तथा दीनों, दुबलों, अनाथों और ब्राह्मणों का भरण-पोषण करती है वही तो सती-साध्वी और धर्मपरायणता मानी जाती है। जो स्त्री अनुकूल, प्रियवन्द, शांत, मंगलमयी तथा पतिव्रता है वह लक्ष्मी तुल्य है। स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति स्वर्ग में भी दुर्लभ है। पतिव्रता नारी, लोलुप, कुटिल, नपुंसक, दुर्गति-ग्रस्त, अंध, वीधर, क्रोधी तथा निर्धन पति की धर्मपूर्वक सेवा करती है। ऐसी पतिव्रता नारी में और जाह्नवी में कोई अन्तर नहीं है।³⁰ इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट देखा है कि एक ही पतिव्रता नारी सीता पातक्य धर्म पर अडिग रहते हुए श्रीराम को रामराज्य स्थापित करने का सुयोग और प्रेरणा दी है और एक ही पशु-नारी शूर्पणखा ने पराक्रमी रावण को समूल सर्वनाश के गर्त में ढकेल दिया है। अतएवं उन्होंने सोच समझकार सती-साध्वी नारियों की वन्दना की है और धर्महीन एवं मर्यादाच्युत नारियों की निंदा की है। अतः इस प्रकार स्पष्ट है कि तुलसीदास ने अपने काव्य में धर्म को पारम्परिक रूप में ही स्वीकार किया है। श्रद्धा को उसका मूलाधार बनाया गया है। उनके अनुसार तप, सत्य, दया, दम, परोपकार आदि गुण धर्म के ही अंग हैं। समाज की आचार व्यवस्था को नष्ट करने वालों को दण्ड देने में भी उन्होंने धर्म पालन के भाव देखे थे। यह दृष्टिकोण निश्चय ही धर्म को समाज से जोड़ता है।

ईश्वर आस्था:—

निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म जब माया से आवृत हो जाता है तब सगुण और सविशेष होकर ईश्वर कहलाता है। ईश्वर अपनी शक्ति माया से इस विश्व का समस्त प्रपंच रचता है। जगत का सृष्टा, पालक तथा संहारक ईश्वर है। सृष्टि की रचना करना ईश्वर का स्वभाव है। ईश्वर इस विश्व का उपादान कारण और निर्मित कारण है भी विश्वातीत है। तुलसीदास जी कृत 'रामचरित्रमानस' के बालकाण्ड में जब तुलसीदास राम के चरित्र का गुणगान करते हैं तो वहाँ वे अपने को दास तथा अज्ञान कहकर ईश्वर आस्था प्रकट करते हैं?

'रामचरित्रमानस' के एक अन्यत्र स्थान पर श्रीराम के जन्म के समय पर कौसल्या की ईश्वर के प्रति गहन आस्था प्रतीत होती है। दीनों पर दया करने वाले कौसल्याजी के हितकारी प्रभु प्रकट हुए हैं, मुनियों के मन को हरने वाले उनके अद्भुत रूप का विचार करके माता हर्ष से भर गई। नेत्रों को आनन्द देने वाला मेघ के समान शरीर था। दोनों हाथ जोड़कर माता कहने लगी हे अनन्त! मैं किस प्रकार तुम्हारी स्तुति करूँ। वेद और पुराण तुमको माया, गुण और ज्ञान से परे और परिणामरहित बताते हैं। श्रुतियाँ और संतजन दया और सुख का समुद्र सब गुणों का धाम कहकर जिनका गान करते हैं, वही लक्ष्मी पति भगवान मेरे कल्याण के पुत्रभाव हो जायें।³¹ राम के वन गमन के समय पर राजा दशरथ महादेव जी का स्मरण करते हुए कहते हैं कि —हे सदाशिव! आप मेरी विनती सुनिये। आप आशुतोष (शीघ्र प्रसन्न होने वाले) हैं। अतः मुझे अपना दीन सेवक जानकर मेरे दुःखों को दूर कीजिए।³² अतः यह ईश्वर आस्था का अटूट उदाहरण है। बरबै रामायण के उत्तरकाण्ड में तुलसी इन शब्दों के साथ अपने प्रभु के प्रति आस्था प्रकट करते हैं—

“ काल कराल, विलोकहु होई सचेत।

राम नाम जप तुलसी प्रीति समेत”।³³

अर्थात् कराल काल से बचने के लिए राम—नाम का जप आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। हरिनाम तुलसीदास के लिए कामधेनु और कल्प वृक्ष के समान है।

कामधेनु हरिनाम, कामतरु राम।

तुलसी सुलभ चार फल सुमिरत नाम।³⁴

कवितावली के बालकाण्ड (छंद—2) में शिशु रूप में राम की शोभा का वर्णन

करते हुए तुलसीदास कहते हैं जिसके मन में ऐसी अपार शोभा वाला बालक नहीं बसा, तो संसार में उसका जीवन व्यर्थ है।³⁵ भगवान राघवेन्द्र गंगा-पार करने के लिए केवट से नाव माँग रहे हैं। तुलसीदास ऐसे स्थल पर तुरन्त अपने प्रभु की अलौकिक शक्ति और महिमा की ओर संकेत करते हुए इन शब्दों में अपनी आस्था को उजागर करते हैं—

“ तुलसी जेहि के पद-पंकज ते प्रगटी तटिनी जो हरै अध गाटे।

सो प्रभु स्वैं सरिता कहूँ माँगत नाव करारै हवै ठाटे।”³⁶

गीतावली में पदों के माध्यम से राम-कथा के प्रसंग वर्णित हैं। रामचन्द्र जी गृधराज जटायू की अंतेष्टि-क्रिया कर दी। तुलसी भगवान राम को ऐसे समय स्मरण करना नहीं भूलते। गीध में राम का पितृ भाव व्यक्त करते हुए तुलसीदास कहते हैं—

“ पितु जयों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।

ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो।”³⁷

देवी देवता :- देवी-देवताओं की पूजा, अर्चना करते हुए मनौती माँगने की प्रथा भी हमारी संस्कृति में है। अतः हिन्दु समाज में लोग अपनी इच्छा पूर्ति के लिए अनेक देवी-देवताओं के दर्शन करते हैं और उनका गुणगान सुनते हैं। तुलसीदास के काव्य राम चरित्रमानस में ‘शिव’ को पति रूप में प्राप्त करने के लिए पार्वती कठोर तपस्या करती है।³⁸ दशरथ पुत्रेष्टि यज्ञ करते हैं और अग्नि देवी की कृपा से राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न का जन्म होता है।³⁹ जगदम्बा गोरी की पूजा कर सीता “निज अनुरूप सुभग वर” की प्राप्ति का वरदान प्राप्त करती है।⁴⁰ विनय पत्रिका में तुलसीदास ने राम भक्ति का वरदान पाने के लिए गणेश, शिव, सूर्य, गौरी, गंगा, हनुमान आदि देवी देवताओं की वंदना की है।⁴¹ गीतावली में राम विवाहार्थ प्रस्थित होते हुए, सीता को विदा करते समय जनक, बरात के लौटने पर रानियाँ, राम के राज्याभिषेक अवसर पर अयोध्या के सामान्य लोग, गौरी शंकर के विवाह में स्वयं शिव और पार्वती गणेश की पूजा करते हैं।⁴² इस प्रकार तुलसी के काव्य में देवी-देवताओं की पूजा अर्चना भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी दृढ़ आस्था प्रकट होती है।

यज्ञ :-

पूज्यते हविदीर्यतेड! पूज्यन्ते देवता अत्र वा। यज्ञ+नङ् ” अध्यापक ब्रह्म यज्ञ है, तपणं पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलि अर्पित करना भूतयज्ञ है, अतिथि पूजन नृयज्ञ है, भगवत गीता में कृष्ण अर्जुन को यज्ञ की महिमा बताते हैं कि सम्पूर्ण प्राणी अन्न से

उत्पन्न होते हैं, अन्न की तुष्टि यज्ञ से होती है, और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।⁴³ हमारी संस्कृति में अनेक अवसरों पर यज्ञ या हवन करने की प्रथा है जैसे— नामकरण संस्कार, यज्ञोपवतीत संस्कार, विवाह संस्कार, अंतैष्टि संस्कार के अवसर पर यज्ञों का आयोजन होता है। तुलसीदास ने 'रामचरित्रमानस' में दशरथ पुत्रेष्टि यज्ञ करते हैं और अग्नि देव की कृपा से प्राप्त हुए भविष्य से राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न का जन्म होता है।⁴⁴ एक अन्यत्र स्थान पर देवताओं को राजा दक्ष के यज्ञ करने पर पार्वती को वहाँ जाना और अपने प्राणों का पिता के द्वारा अपमानित होने पर प्राणोत्सर्ग करना।⁴⁵ 'रामचरित्रमानस' में एक अन्य स्थल विश्वामित्र यज्ञ करते हैं और राक्षसों के आतंकित होने पर वे श्रीराम—लक्ष्मण की सहायता लेते हैं।⁴⁶ सीता—विवाह के अवसर पर राजा जनक धनुष यज्ञ करते हैं, जहाँ पर विभिन्न देशों के राजा उपस्थित होते हैं और अन्त में धनुष तोड़कर यज्ञ विधि परम्परा के अनुसार श्रीराम सीता से पाणिग्रहण करते हैं।⁴⁷ मेघनाद और लक्ष्मण—युद्ध प्रसंग में मेघनाथ अजेय होने के लिए यज्ञ करता है जिसको जामवंत, सुग्रीव आदि द्वारा विध्वंस किया जाता है।⁴⁸ इसके अतिरिक्त तुलसीदास ने उस समय के स्मृति धर्मानुयायियों में प्रचलित पंच देवोपसना का भी समर्थन किया है। स्मृति—परम्परा के अनुसार गृहस्थ को नित्य पंच महायज्ञ—ब्रह्मयज्ञ, पितृ यज्ञ, नृयज्ञ और भूत यज्ञ करने चाहिए।⁴⁹

तीर्थ स्थल:—

तीर्थ शब्द का अभिप्राय पुण्य स्थान आदि से है। तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति प्लवन एवं संतरणार्थक "तृ" धातु के साथ "धक" प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होती है। व्याकरण की दृष्टि से जिसका अर्थ " तीर्थते अनेन" अर्थात् जिसके द्वारा भवसागर को तरा जाये।⁵⁰ "तरीत पापदिकम् यस्मात्" अर्थात् जहाँ पहुँचकर जीव काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पापों से रहित हो जाता है अथवा जिसके द्वारा भवसागर को पार कर सकते हैं। भारतीय आस्तिक विचारधारा के अनुसार तीर्थों का जल पवित्र होता है।⁵¹ ऐसा तीर्थ भगवान का चरित्र ही होता है। परमागम षट्खण्डागम मनु स्मृति में कहा गया है कि सम्पूर्ण वेदयज्ञ ब्राह्मण की दूर से ही परीक्षा करें, क्योंकि वह उन द्रव्य कृत्यों के देने में तीर्थ रूप अतिथि कहा गया है।⁵² आदि पुराण में मोक्षप्राप्ति के साधनभूत सम्यक—दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र को तीर्थ बताया है।⁵³ ये तीर्थ स्थल सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र

में आबद्ध करने तथा इनमें किन्हीं देवता विशेष अथवा प्रभाव ऋषि—मुनि तप इत्यादि के महत्व का वर्णन है और इनके आधार पर ही हम विभिन्नता में एकता का उद्घोष करते हैं। देवताओं की अनेकता भारतीय धर्म—परम्परा को उदार बनाती है। तीर्थों की अनेकता इस उदारता को प्राकृतिक और व्यवहारिक आधार प्रदान करती है। अनेक देवताओं और तीर्थों के सेवन के सम्बन्ध में मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता है। यह स्वतंत्रता धर्मशास्त्रों की मानवीय भावनाओं के अनुरूप है तथा धर्म शास्त्रों के सामाजिक धर्म की भाँति दिव्य धर्म को भी उदार एवं मानवीय बनाता है।, अवतार, देवता, तीर्थ आदि की प्रकार की अनेकताओं से विभूषित भारतीय धर्म—परम्परा उदार और कलात्मक धर्म का सर्वोत्तम उदाहरण है।

उदाहरण हेतु सौराष्ट्र में सोमनाथ, श्री शैल पर मल्लिकार्जुन, उज्जैनी में महाकाल, ओंकारेश्वर अथवा अमलेश्वर (जो कि नर्मदा के तट पर स्थित है।) सेतुबन्ध, रामेश्वर, वाराणसी में विश्वनाथ, प्रयाग में गंगा—यमुना का संगम, अयोध्या, चित्रकूट, मथुरा, वृन्दावन, ब्रज, कुरुक्षेत्र, द्वारका, गोकुल, गया, केदारनाथ आदि।⁵⁴ इस प्रकार ये सभी तीर्थ—स्थल भारतीय संस्कृति की आत्मा है। तीर्थ महान सिद्ध एवं योगियों की तपस्थली माने गये हैं। प्रकृति के उस पवित्र एवं निश्चल वातावरण में पहुँचकर मनुष्य इस जगत के जंजालों से कुछ विरत होकर जगत निस्सार समझते लगता है। सत्य तो यह है कि वानप्रस्थ और सन्यास ये दोनों ही आश्रम तीर्थों एवं तपोवनों से जुड़े हुए हैं। महाभारत में सौराष्ट्र 'तीर्थ' को देवताओं का तीर्थ कहा गया है। उसके विषय में नारदजी द्वारा कहा गया है कि "सुराष्ट्र देशों में मृगों और पक्षियों से सेवित उज्जयन्त नामक पुण्यपर्वत पर तपस्या करने वाला पुरुष स्वर्गलोक में पूजित होता है। उज्जयन्त के ही आस—पास पुण्यमयी द्वारकापुरी है, जहाँ साक्षात् पुराणपुरुष मधुसूदन निवास करते हैं, वे ही सनाधन धर्मस्वरूप है।⁵⁵ शंकर जी की तपोभूमि कैलाश भी महान तीर्थस्थली मानी गयी है।

तुलसीदास जी का भी तीर्थाटन में विश्वास रहा है। अतः उन्होंने अपनी कृतियों में इसकी महत्ता प्रदर्शित की है। 'रामचरित्रमानस' प्रयाग' को तीर्थराज कहा है।⁵⁶ जो सब कामनाओं को पूरा करता है। वह सब पापों को ऐसे ही नष्ट करता है जैसे सिंह हाथी को मारता है। त्रिवेणी में स्नान अत्यन्त फलदायक है।⁵⁷ 'अयोध्या' का वर्णन करते हुए तुलसी का कहना है कि उसकी महिमा का मान तो हजारों शेषनाग भी नहीं

कर सकते।⁵⁸ तुलसीदास ने राम के मुख से कलवाया है कि मैं अयोध्या को छोड़कर सुरपुर भी नहीं जाना चाहता हूँ।⁵⁹ 'काशी' के विषय में तुलसी ने कहा है कि काशी पापों को नष्ट करने वाली ज्ञान की खान और मोक्ष को देने वाली है।⁶⁰ इस प्रकार भारतियों के मन में गंगासागर, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग, हरिद्वार, पुष्कर, द्वारिकापुरी, रामेश्वर, काशी, मथुरा, कुरुक्षेत्र, गया आदि। प्राचीन तीर्थों के लिए विशेष श्रद्धा आज तक विद्यमान है। भारतीय परम्परा में इन तीर्थों का बड़ा महत्व है। ये तीर्थ संख्या में इतने अधिक हैं कि समस्त भारत भूमि तीर्थमयी जान पड़ती है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि तुलसीदास के काव्य में तीर्थटन का पूर्ण विश्वास अभिव्यक्त किया गया है।

नीति का स्वरूप :- नीति शब्द "नी" धातु में "भावे स्त्रिया कितन्। सूत्र से कितन प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। 'नी+ कितन् "क" और "न" का लोप, नी+ति= नीति" "नी" धातु का अर्थ है—चलना अथवा ले चलने की क्रिया।⁶¹ भारतीय साहित्य के अन्तर्गत नीति का प्रयोग अति प्राचीनकाल से प्रभृति प्रचलित हो रहा है और यथा समय महती विभूतियाँ नीति से सम्बद्ध विभिन्न सूक्ति वाक्यों का प्रयोग करती रही हैं। प्रस्तुत संवर्द्धन करते रहें, क्योंकि नीति के प्रयोग से काव्य अधिकांशतः मानवीहितार्थ समर्थ हो जाता है। वस्तुतः नीति एक ऐसा प्रशस्त जीवन—पथ है, जो मानव के प्रत्येक क्षेत्र के हेतु बहुशः उपयोगी सिद्ध होता है। इसमें कोई प्रतिशयता की बात नहीं है कि यह वक्तव्य दिया जाए कि मानव जीवन का सम्पूर्ण विकास किसी न किसी नीति का ही परिणाम है।

नीति के स्वरूप को उद्घटित करते हुए विभिन्न विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं। उक्त प्रसंग में डा० सुखदेव शुक्ल के विचार द्रष्टव्य हैं —"प्रत्येक समाज अपने अन्दर शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की आचार—पद्धति निर्धारित करता है। इस आचार पद्धति का लक्ष्य यही होता है कि समाज के सदस्य एक दूसरे से टकराने के स्थान पर परस्पर मिल जुलकर जीवन व्यतीत करें और समाज के सामूहिक जीवन को समृद्ध एवं सुखी बनायें। समूचे समाज द्वारा स्वीकृत यह विशिष्ट आधार पद्धति धीरे—धीरे एक सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित व्यवस्था का रूप धारण कर लेती है और समाज के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्तियों के आचरण का निर्देशन व नियंत्रण करने लगती है। यहाँ आकर इस सुनिश्चित एवं व्यवस्थित आधार पद्धति को नैतिकता की संज्ञा दी जाती है और सामाजिक जीवन में व्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखने वाला

आचरण नैतिक कहलाने लगता है। इस प्रकार नैतिकता से अभिप्राय व्यक्ति के आचरण का निर्देशन करने वाली एक विशिष्ट नियम व्यवस्था एवं आधार पद्धति से है जिसे समाज अपने सदस्यों के लिए निर्माण करता है।⁶² नीति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए "हिन्दी साहित्य कोष" में कहा गया है। समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्मार्थ काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिस विधि निषेधमूलक सामाजिक, व्यवहारिक, आन्तरिक, धार्मिक तथा राजनैतिक आदि नियमों का विधान देशकाल और पात्र के संदर्भ में किया जाता है उसे नीति शब्द से अभिहित करते हैं।⁶³

डा० दीनदयाल गुप्त नीति के प्रचलित अर्थ की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं— "मनुष्य का वह ज्ञान और अनुभूति का भण्डार जो मानव के व्यवहारिक जीवन को सुखमय और उन्नत बनाने में सहायक होता है, नीति साहित्य मनुष्य क्या करता है, इस बात को छोड़कर मनुष्य को क्या करना चाहिए, नीति है।⁶⁴ इहलोक और परलोक सम्बन्धी उपायादि जिसके द्वारा सिद्ध किया जाए, वह नीति है—

" नीयते सन्लभ्यन्ते उपायादयः एहिकामुणिम कार्या वा अनया"⁶⁵

मानव के इहलौकिक साफल्य से आशय उसके सर्वांगीण विकास तथा विकास के विविध पक्षों से हो सकता है। यथा उसके दैहिक, मानसिक, बौद्धिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि विकासों का ही तात्पर्य सर्वांगीण विकास है। अतः मनुष्य की समस्त क्रियाएँ, व्यवहार तथा ज्ञान जो उसके विकास में सहायता प्रदान करते हैं, सभी नीति के अन्तर्गत आते हैं। विदुर नीति प्रकरण में धृष्टराष्ट्र के प्रति नीति के वचन कहते हुए विदुर कहते हैं कि "जिस-जिस प्रकार से मनुष्य कल्याण में मन लगाता है, उसी प्रकार उसके समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं।"⁶⁶ भीखनलाल अत्रेय ने लिखा है— "बिना उच्च नैतिक जीवन के दार्शनिक बुद्धि का उदय नहीं हो सकता न धर्म तथा दर्शन की बातें समझ में आती हैं और न उनमें रूचि ही होती है। अच्छा दार्शनिक होने के लिए मनुष्य को धार्मिक, नैतिक, सदाचारी और शान्तमना होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे हुए बिना वह दार्शनाधिकारी नहीं होता।⁶⁷

परिभाषाओं के माध्यम से स्पष्टतया विदित होता है कि नीति मानव-जीवन को सरल, सुखद पथ से ले चलने का ही अभियान है। मानव का लक्ष्य दुख से निवृत्ति और सुखोपलब्धि है। अर्थात् ही मानव-मात्र चिरकाल से प्रयत्नशील रहा है मनुष्य को

अपना जीवन पथ प्रशस्त करने में अनेक बाधाओं तथा व्यवधानों के सम्मुख होना पड़ता है। सुखेपलब्धि हेतु तो ज्ञात नहीं है कि उसे कितनी झाड़ियों को काटकर कष्टरूपी सागर—सीढ़ियों में डूबते—उतरते पगडण्डियों के माध्यम से मार्ग निर्मित करना पड़ता है। मानव जीवन के विविध पक्ष हैं और इन विभिन्न पक्षों में साफल्य अवाप्त करने के उपर्यन्त ही अपने लक्ष्य के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो पाती है। वस्तुतः अवशेष जीवन के क्षेत्रों को बड़ी सरलता से उत्तीर्ण करके पूर्ण संतुष्टि एवं आन्नदोपलब्धि में ही मानव—जीवन की सफलता का मर्म गोपनीयत्वेन विद्यमान है। इस साफल्योपलब्धि में सहाध्यप्रद मार्ग ही नीति है। मूलतः नीति शब्द का “नीयते अनयां इति नीति” अर्थ ही युक्तियुक्त दृष्टिगत होता है। यतेहि जिस मार्ग का अवलम्बन लेकर मान अपना बहुमुखी विकास करता हुआ दूसरों के विकास में भी सहयोग दे सके, उक्त मार्ग ही नीति है।

अभिहित करके स्पष्ट किया है जिसने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक को भी उपलब्ध नहीं किया उसका जन्म अजा के गलस्तनवत व्यर्थ ही है। अभिप्राय यह है कि धर्मार्थ काम मोक्षों की उपलब्धि कराने वाला पुण्य जीवन—पथ ही नीति है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मानव—जीवन के साफल्यार्थ कुछ नियम व आदर्श तो अपेक्षित होते हैं, एवंविध नियम, संयम व आदर्शों से युक्त जीवन—पद्धति का ही “नीति” यह अभिमान किया जा सकता है, जिसका अनुसरण करता हुआ मानव चहुँमुखी विकास की ओर अभिमुख होता हुआ आत्म—जीवन की सार्थकता को सम्यक्तया सिद्ध कर सके। नीति में प्राचीन भारतीय दर्शन तथा जैन व बौद्ध धर्म के अंश निहित है इसी सम्बन्ध में सत्य, अहिंसा, परोपकार का विवेचन किया जायेगा जिसका संदेश तुलसी साहित्य में मिलता है।

सत्यः—

डा० राधाकृष्णन कहते हैं कि “सत्य एक सार्वभौम व्यवस्था है। वह व्यक्ति से परे है और वैयक्तित्व प्रभावों अथवा स्थान अथवा समय की अवस्थाओं में अप्रभावित रहता है। इन समस्त बातों का सम्बन्ध बाह्य अभिव्यक्ति से है, आन्तरिक वास्तविकता से नहीं। विश्वास, सम्मतियाँ, सिद्धान्त सभी अस्थायी और परिवर्तनशील हैं तथा उनके मूल बदलते रहते हैं। इसके विपरीत सत्य शाश्वत और अपरिवर्तनीय है।”⁶⁸ चक्षु एवं कर्ण से यथा दुष्ट एवं श्रुतवाणी को अविकल रूप से प्रस्तुत करना ही सत्य है। धर्मतत्त्ववेत्ता सत्य को ही परम धर्म मानते हैं। महाभारतकार के अनुसार भूतमात्र के लिए कल्याणकारी तत्व सत्य ही है।⁶⁹

युधिष्ठिर के द्वारा पूछने पर भीष्म जी ने कहा है कि—“ सत्य सनातन धर्म है,

सत्य ही जीव की परम गति है। सत्य ही धर्म, तप, योग और सनातन ब्रह्म है। सत्य ही परम यज्ञ है। सत्य पर ही सबकुछ टिका हुआ है। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है, सत्य ही धर्म का आधार है, सत्य से दान का दक्षिणाओं सहित यज्ञ का त्रिविध अग्नियों में हवन का और धर्म निर्णय करने वाले वेदों के स्वाध्याय का भी फल मिल जाता है।⁷⁰ चाणक्य भी समस्त भौतिक शक्तियों का संचालन सत्य से ही स्वीकारते हैं। सत्य के बल से ही पृथ्वी स्थिर है। सत्य का आश्रयण कर सूर्य तप रहा है। सत्य का अवलम्बन पाकर वायु बह रही है। सार यही है कि सत्य में ही सब कुछ समाविष्ट है।⁷¹ उपनिषदों में 'सत्यमेव जयते नानृतम' की घोषणा से सत्य का अवलम्बन किया है।⁷² बाल्मीकि ने सत्य को परमधर्म मानते हुए उसी को ब्रह्म माना है।⁷³ यद्यपि सत्यमार्ग के अवलम्बन में अनेकविध विध्न-बाधाएँ तथा बहुविध कष्ट आते हैं तथापि युग पुरुष उसे उपयोगी और वांछनीय मानकर व्यवहृत करते हैं। ऐसे ही महानुभवों द्वारा प्रदर्शित सत्यमार्ग पर चलकर मानव को अपना जीवन श्लाध्य एवं मंगलमय बनाना चाहिए। तुलसीदास के काव्य में अनेक स्थानों पर सत्य की महत्ता प्रदर्शित की गयी है रामचरित्रमानस में सुमन्त्र के प्रति राम उपदेश में उन्होंने शब्दों में कहलवाया है कि—

सिवि दधीच हरचंद नरेसा। सहे धम हित कोटि कलेसा।

धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।।⁷⁴

दशरथ के प्राण त्याग का कारण उनका सत्य पर अविचलित होकर टिके रहना ही है। उनके सामने पुत्र स्नेह सत्य-रक्षा दोनों का अर्न्तद्वन्द्व भीषण रूप धारण कर चुका था, किन्तु उनकी 'रघुकुल रीति' ने उन्हें सत्य के मार्ग से हटने नहीं दिया, इतना ही नहीं दशरथ असत्य को अनेक पापों का पुंज समझकर सत्य को समस्त सुकृतों का आधार मानते हैं—अतः निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने सत्य पर विशेष बल दिया है वे दशरथ के मुख से रघुवंशियों की सत्यवादिता पर कहते हैं कि वे इतने सत्यवादी होते हैं कि प्राण भले ही चले जाएँ पर कहा हुआ वचन वापिस नहीं लिया जाता।

अहिंसा:—

अहिंसा को भारतीय शास्त्रों में परम धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरे जीवों को अपने स्वार्थ की खातिर पीड़ित करना या मारना हिंसा है तथा इसके

विपरीत आचरण, उन पर अनुकंपा का भाव दिखाना अहिंसा का पालन है। “मन, वचन, कर्म, से निरपराध को शारीरिक अथवा मानसिक रूप से पीड़ित न करना ही अहिंसा है। शाश्वत मान्यता भी “अहिंसा परमो धर्मः” की रही है। वस्तुतः अहिंसा परम धर्म है, परम सुख है। सकल शास्त्रों में भी अहिंसा ‘परमपद’ के रूप में विचलित है।⁷⁵ भगवान मनु का कथन है कि हिंसक को न इहलोक में सुख प्राप्त होता है न परलोक में।⁷⁶ वेद का आदेश है कि शरीर से किसी को पीडा न दो।⁷⁷ महर्षि व्यास तीर्थाटन, स्नान एवं दान से समर्थक भी हिंसक ही है, किन्तु आतातायी के वध में दोष नहीं है। उसे तो देखते ही मार देना उचित है।⁷⁸ जैन धर्म में महावीर स्वामी पंच महाव्रतों में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया है उन्होंने तो अहिंसा के लिए निम्नलिखित आचारों का निर्देश दिया है।

1. **ईया समिति-** संयम से चलना ताकि मार्ग कीट-पतंगों के कुचलने से हिंसा न हो जाए।
2. **भाषा :-** संयत से बोलना ताकि कटु वचन से किसी को कष्ट न पहुँचे।
3. **एषणा :-** संयम से भोजन ग्रहण करना जिससे किसी प्रकार की कीड़े-मकोड़े की हत्या न हो सके।
4. **आदान-निक्षेप समिति:-** किसी वस्तु को उठाने तथा रखने के सम्बन्ध में विशेष सावधानी बरतना जिससे जीव की हत्या न हो। इत्यादि⁷⁹

भगवद्गीता में ‘अहिंसा’ का तीन बार उल्लेख आया है। एक स्थान पर अहिंसा का उल्लेख ज्ञान के अन्तर्गत हुआ है। दूसरे स्थल पर मुक्ति दिलाने दैवी सम्पदा में अहिंसा का परिगणन है। एक और अन्य स्थल पर शरीर सम्बन्धी तप में शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य आदि के साथ अहिंसा का भी कथन किया गया है। गीता में कर्मयोग एवं भक्ति की विवेचवना प्रमुख होने के कारण अहिंसा के विषय में अधिक व्याख्या नहीं है। किन्तु महाभारत के नारायणीय खण्ड में अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है। विष्णु भक्त वसु उपरिचर का आख्यान इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस राजा ने अश्वमेघ यज्ञ किया किन्तु उसमें पशु बलि नहीं दी गई। केवल आरण्यकों के पदों के अनुसार भाग उपकल्पित किये गए तथा यवों के द्वारा ही आहुति प्रदान की गई।⁸⁰ इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी “परमधरम श्रुति विदित अहिंसा”⁸¹ कहकर अहिंसा परम धर्म स्वीकार किया है। उनके मतानुसार पर पीडन से बढ़कर और कोई अधर्म कार्य नहीं है।

परोपकार :-

दूसरों के हित साधन को परोपकार कहा गया है। परोपकार का अर्थ है— पर का अर्थात् दूसरे का उपकार करना, भलाई करना। तुलसीदास ने कहा है—

परहित सरिस धर्म नाहि भाई ।

परपीड़ा सम नाहि अधमाई ॥⁸²

इस प्रकार परोपकार को सबसे बड़ा धर्म माना गया है। इसीलिए हमारे धार्मिक नीति ग्रन्थों में अनेक प्रकार से परोपकार का महत्व प्रदर्शित किया गया है। सनातन धर्म की सदा से यह मान्यता रही है कि समस्त जड़-चेतन समुदाय में एक ही ईश्वर व्याप्त है। इसीलिए सब में आत्म और आत्म में सबका दर्शन करना चाहिए।⁸³ यही सर्वत्र-सर्वत्र परमात्मा दर्शन है और सर्वश्रेष्ठ धर्म है।⁸⁴ उपनिषद, गीता आदि धार्मिक ग्रन्थ बार-बार इसी तथ्य का स्मरण कराते हैं। महाभारत में कहा गया है कि परोपकार ही पुण्य है, और पर-पीड़न ही पाप है।⁸⁵ परोपकार की भावना से और ऋषियों की रक्षा की इच्छा से ही राम राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा करते हैं। कृष्ण भी परोपकार की भावना से ही अपने लीलामयी युग में गोपियों की रक्षा की इच्छा से ही बकासुर, कैशी, व्योम आदि राक्षसों का वध करते हैं।

इस प्रकार परोपकार हमारी संस्कृति का एक प्रमुख पक्ष रहा है। लोग परहित के लिए अपने प्राणों का बलिदान देते हुए भी देखे गए हैं शिवि ने कबूतर की प्राण रक्षा के लिए अपने को ही समर्पित कर दिया जबकि देवताओं के लिए अपने को ही समर्पित कर दिया जबकि देवताओं की रक्षा के लिए दधीचि ने अपना शरीर त्याग दिया था। इस प्रकार हमारे अनेक ग्रन्थों में परोपकार का महत्व प्रदर्शित किया गया है। अतः तुलसीदास जो भी इसे विस्मृत नहीं कर पाये उन्होंने परोपकार को अत्याधिक महत्ता प्रदान की है।

पारिवारिक नीति :-

जन्मोपरान्त व्यक्ति का जिस जिस प्रकार से विकास होता जाता है उस प्रकार से ही उसके सम्बन्ध क्रमशः माता, पिता, भ्राता, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि से बढ़ते जाते हैं। अनेक परिस्थितियों में उसे इनके साथ देशकाल आदि का ध्यान रखते हुए औचित्यपूर्वक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करना होता है। धर्मशास्त्रों में इन्हीं सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए अनेक प्रकार के कर्तव्यों का निर्देश मिलता है। इन कर्तव्यों के समुचित पालन से पारिवारिक व्यवस्था सुचारु बनी रहती है। इसके विपरीत आचरण

से पारिवारिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए नैतिक आदर्शों को पारिवारिक नीति कहा जाता है। इस पारिवारिक नीति पर ही परिवार की उन्नति निर्भर करती है। अतः तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर पारिवारिक नीति का उल्लेख किया है। तुलसीदास का पूर्ण विश्वास था कि सामाजिक उत्थान का मूल पारिवारिक सुव्यवस्था के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। 'छिन्ने मूल नैव शाखान पत्रम्' की लोकोक्ति के अनुसार यदि पारिवारिक व्यवस्था ही दूषित बनी रही तो न व्यक्तित्व का विकास ही सम्भव हो सकता है और न ही सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था ही बनी रह सकती है।

पारिवारिक नीति में सबसे महत्वपूर्ण स्थान पति-पत्नी का सम्बन्ध है जो जीवन रूपी रथ को निरापद रूप से खींचते हैं। तुलसी ने पति-पत्नी सम्बन्ध के मूल में श्रद्धा विश्वास अथवा प्रीति एवं प्रतीति को रखकर उसे एक असाधारण सौष्टव प्रदान करने की चेष्टा की थी। मनु ने भी पति-पत्नी के धर्म का उल्लेख करते हुए कहा है कि "मृत्युपर्यन्त पारस्परिक विश्वास ही पति-पत्नी का सबसे बड़ा धर्म है। एक बार पारिणय-सूत्र में आबद्ध हो जाने पर पति-पत्नी का कर्तव्य है कि उनमें कोई विभेद न उत्पन्न हो और वे एक दूसरे के प्रति आस्थावान बने रहें? पति के वचनों में अविश्वास प्रकट करके अपने अहं का विस्तार करते हुए मनमानी करनी चाही थी जिसके परिणामस्वरूप उन्हें पति-परित्याक्ता होकर अत्यन्त कष्ट को झेलना पड़ा था। एक अन्यत्र स्थल पर पति-पत्नी का अत्यन्त आदर्श रूपी मिलता है। "मनु शतरूपा तप-प्रकरण में भगवान से वरदान माँगते समय पति-पत्नी दोनों ने पुत्र-प्राप्ति हेतु अखण्ड रूप ईश्वर की आराधना की है।⁸⁶ केवट प्रसंग में सीता ने पति के हृदय की बात जानते हुए अपनी अँगूठी उतारती है यह पति-पत्नी का अनुपम उदाहरण है।⁸⁷ सीता को अशोक वाटिका में रखकर रावण ने साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायों से पथ-विचलित का अनेक बार प्रयास किया है, परन्तु सीता ने अपने पति देव का स्मरण करते हुए जो उत्तर दिया था, वह पारिवारिक नीति का अनूठा उदाहरण है-

तन धरि ओट कहत वैदही। सुमिरि अवधपति परम सनेठी।

सुनु दस मुख खधोत प्रकाशा। कबहूँ कि नलिनी करइ विका।।⁸⁸

राम का सीता के प्रति भी कितना अगाध प्रेम था, इसका परिचय राम और

लक्ष्मण के क्षेम समाचार को कहते हुए हनुमान जी ने सीता जी को अत्यन्त कोमल स्वर में उत्तर दिया है—

जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना।।⁸⁹

इस प्रकार तुलसीदास की पति-पत्नी सम्बन्धी नीति का लक्ष्य मानव-जीवन के लक्ष्य (चतुर्वर्गफल प्राप्ति) की निर्वाध उपलब्धि है जिसके लिए उन्होंने अन्योन्याश्रय भाव के सूत्र के आधार पर परिवार को लौकिक दृष्टि से सुखी बनाते हुए अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करने का वर्णन किया है। तुलसी के काव्य रामचरित्रमानस में पारिवारिक नीति के माध्यम से माता-पिता के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है—“कौशल्या और सुमित्रा पारिवारिक कर्तव्य के पालने में आदर्श माताएँ हैं। कौशल्या के पास राम जब अनुमति लेने पहुँचते हैं, तब कौशल्या पिता से माता का दर्जा बड़ा बताती हुई राम को वन जाने से रोकती है और कहती है कि माता को बड़ी मानकर तुम वन को मत जाओ। यदि पिता ने वन के लिए आज्ञा दी है, तो माता ने तो नहीं दी। इसीलिए तुम्हें वन नहीं जाना

चाहिए। इस पर राम ने कहा यदि पिता और माता दोनों ने ही आज्ञा दी हो, तब क्या किया जाना चाहिए? ‘माता की आज्ञा’ से तात्पर्य राम का माता कैकयी को उसी सद्भाव से आदर देती हुई राम से कहती है कि यदि माता-पिता दोनों ने ही वन जाने को कहा है, अवश्य जाओ। ऐसी अवस्था में वन सौ अवस्थाओं के समान होगा। राम भी सच्ची माता के सच्चे पुत्र थे। पिता को मूर्च्छित देखकर माता कैकयी से राम कारण पूछने लगे। कैकयी ने अपने वरदानों की कहानी सुनाई और वनवास के लिए संकेत किया। आदर्श परिवारी तथा आदर्श पुत्र राम कैकयी से विनय भर वाणी में बोले—”

सुनु जननी सोइ सुत वडभागी। जो पित् मात वचन अनुरागी।⁹⁰

माता सुमित्रा भी आदर्श नारी है, लक्ष्मण को राम के साथ वन भेज देती है, और कहती है राम ही तुम्हारे सर्वस्व हैं। “यह अनूठा उदाहरण इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता है।⁹¹ पुत्र वास्तव में परिवार का दीपक कहा गया है। पुत्र के बिना मनुष्य की सद्गति नहीं मानी जाती। समस्त सुखों से सम्पन्न होने पर भी पुत्र के बिना परिवार शून्य सा प्रतीत होता है। राजा दशरथ भी पुत्र के अभाव के कारण आत्मग्लानि से भरकर गुरु चरणों में उपस्थित होकर पुत्र-प्राप्ति की कामना से अपने कष्ट का प्रकटीकरण करते हैं तो वशिष्ठ उन्हें धैर्य बँधाते हैं कि जगविदित चार पुत्रों का तुम्हारे यहाँ जन्म होगा। दूसरी ओर पुत्र का भी यह परम कर्तव्य है कि वह हर प्रकार से पिता

की आज्ञा कर पालन करे। राम सहर्ष पिताशा के अनुसार वन जाने को तैयार हो जाते हैं। ऐसा पारिवारिक नीति के अन्तर्गत पुत्र का अन्यत्र उदाहरण नहीं मिलता है। पारिवारिक नीति के भ्रात-सम्बन्धी नीति का भी उल्लेख तुलसी के काव्य रामचरित्रमानस में अनूठा उदाहरण मिलता है। एक ओर राम के भ्राता लक्ष्मण तथा भरत का और दूसरी ओर बालि के भ्राता सुग्रीव, रावण के भ्राता विभीषण और कुम्भकरण आदि का उल्लेख मिलता है। बालि तथा कुम्भकरण और रावण का विनाश अपने भ्राताओं के प्रति अनेक क्रूर, नीतिविहीन तथा कर्कश व्यवहार के कारण ही हुआ था। यदि रावण अपने भ्राता विभीषण की सम्मति को मान लेता और उसका तिरस्कार न करता तो सम्भवतः परिणाम वह न निकलता जो अन्त में निकला। इधर राम के भ्राता भरत जैसा चरित्र संसार की धरित्री पर मिलना असम्भव है। परम प्रिय भ्राता रामचन्द्रजी के प्रति भरत कितना समर्पित भाव है, इसकी अनुभूति तब होती जब उन्होंने अयोध्या के प्राप्त राज्य को कभी नहीं माना। अयोध्या के राज्य की देखभाल केवल बड़े भाई राम के आदेश के लिए पालन करने के लिए की। राम के परिवारियों में भी राम के अतिरिक्त भरत के अगाध प्रेम को कोई नहीं जानता था। भरत जब राम को वापस लौटाने के लिए वन को जाते हैं तो लक्ष्मण राम से कहते हैं कि भरत को राजमद हो गया है। रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से इस भ्रान्त मन की भ्रान्ति को दूर करते हुए कहा है कि—

‘भरतहि होइ न राजमद विधि हरि पद पाई।

कबहूँ कि काँजी सीकरनि क्षीर सिन्धु बिन साई।।⁹²

अर्थात् भरत को यह संसाररूपी राज्य भी प्राप्त हो जाये तो भी उसे राजमद नहीं हो सकता है। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में भरत की गरिमा स्पष्ट हो जाती है। “अध्योध्या की नागर संस्कृति ने उनके सामने लोभ के जाल फैलाये, श्रृंगवेरपुर की निश्छल ग्राम्य संस्कृति ने उनके सामने क्रोध के जाल ताने, और प्रयाग की गम्भीर तपोवनी संस्कृति ने इनके सामने काम के जाल उपस्थित किये किन्तु भरत इन वासनाओं से नहीं डिगे।⁹³ लक्ष्मण मुर्छा के समय राम विलाप करते हुए यहाँ तक कह देते हैं कि अगर मैं यह जानता कि वन में भाई का मुझसे बिछड़न होगा, तो मैं पिता श्री की आज्ञा को कभी स्वीकार नहीं करता। यह राम का भ्रात-नीति का अनूठा उदाहरण है।

तुलसी के काव्य में ‘रामचरित्रमानस’ में सास-बहू का भी अनूठा पारिवारिक सम्बन्ध देखने को मिलता है। सीता ही सांसों के साथ अपना पारिवारिक धर्म निभाती,

सांसे भी अपना पारिवारिक धर्म निभाती हैं। राजा जनक की जनक दुलारी सीता जब विवाहित होकर अयोध्या अपनी ससुराल आती है, तब सांसे अपनी पुत्र-वधुओं (सीता, उर्मिला, माण्डवी और श्रुति कीर्ति) पर बड़े वात्सल्य से प्यार-दुलार करती है। उन बहुओं की सांसे साथ लेकर सोती हैं। उनके सुख-दुख का पूरा ध्यान रखती हैं। तुलसी सास बहुओं के इस पारिवारिक प्रेम के सम्बन्ध को देखते हुए कहते हैं कि

" सुंदर बधुन्ह सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई।"⁹⁴

कौशल्या, कैकयी और सुमित्रा सांसे बहुओं को लेकर ऐसी सोई मानों सर्पों ने अपने सिर की मणियों को हृदय में छिपा लिया है। इस प्रकार यह पारिवारिक नीति में सास-बहू का वात्सल्य कितना अनूठा है, भारतीय इतिहास में ऐसा उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता है। वर्तमान युग में अगर इस पारिवारिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस नीति को अपनाया जाए तो परिवार कभी भी विश्रुंखलित नहीं हो सकता है, और न ही न्यायालयों में सम्बन्ध विच्छेद तक की नौबत आ सकती है। अतः तुलसी की अधार्मी आधुनिक समाज के लिए मार्गदर्शक है।

पारिवारिक नीति के अन्तर्गत गुरु का महत्व लौकिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैदिक वाङ्मय से 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' के उपदेशों से यह सिद्ध होता है कि गुरुओं को भी देवता मानना चाहिए। मुनि वशिष्ठ राजा दशरथ के कुल गुरु हैं। उन्हें पौराणिक तथा सामाजिक दृष्टि से एक श्रद्धेय एवं पूज्य व्यक्ति का पद प्राप्त है। गुरु की आज्ञा का पालन करना राम तथा पारिवारिक तथा सामाजिक धर्म मानते हैं। राम की जितनी श्रद्धा है, वशिष्ठ मुनि का उतना ही वात्सल्य राम के प्रति है। राज्याभिषेक की भूमिका के रूप में राम के यहाँ पहुँच जाते हैं। प्रिय शिष्य राम ने तुरन्त उठाकर गुरुवर के चरणों में प्रणाम किया और कहा कि आज मेरे अहोभाग्य। मेरा घर आज मंगल गृह बन गया। राजा जनक की नगरी मिथिलापुरी में दोनों भाई गुरु की सेवा सुश्रूवा करते हैं।

इस प्रकार तुलसी के काव्य में पारिवारिक नीति के अन्तर्गत गुरु का स्थान सर्वोच्च था किन्तु प्रतीत होता है कि आजकल की भाँति उसम समय के गुरु धन-लोलुपता के कारण शिष्यों से धनापहरण नहीं करते थे और न ही शिष्यों से किसी प्रकार वैर-भाव भाव रखते थे। अतः तुलसी वाङ्मय रामचरित्रमानस के अन्यत्र स्थानों पर पारिवारिक नीतियों का अनूठा उल्लेख मिलता है।

सामाजिक नीति :-

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मानव और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त गहन है। समाज में रहते हुए व्यक्ति को अनेक प्रकार की परिस्थितियों में अनेक प्रकार के प्राणियों के साथ जुड़ना होता है। समाज उसके लिए चेतनाहीन संस्था न होकर एक चेतनापूर्ण उदात्त संस्था बन जाता है जिसके विभिन्न अंगों के साथ व्यवहार करने के लिए व्यक्ति को कुछ नैतिक आदर्श अपनाने आवश्यक हो जाते हैं। यही आदर्श उसकी उस अवस्था में सहायता करते हैं। जब उसे यह सोचना होता है कि किस प्रकार व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार उचित है जिससे मर्यादा की रक्षा भी होती रहे और वैयक्तिक कल्याण भी जाये। समाज में मित्र, शत्रु, दुष्ट, सज्जन, सन्त, महात्मा, परोपकारी, मूर्ख, बुद्धिमान, अभिमानी, विनयी अनेक प्रकार के हुआ करते हैं जिनके साथ विभिन्न प्रकार का व्यवहार ही नीति-सम्मत माना जाता है। गोस्वामी तुलसीदास भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अन्नय भक्त थे। उन्होंने सामाजिक नीति में उसी आदर्श को अपनाया जो सामाजिक संगठन के लिए भारतीय संस्कृति का मूल आदर्श रहा है। उनके काव्य में सामाजिक नीति में समाज को वास्तविक रूप से सुदृढ़ बनाने के तत्व में निहित है।

व्यक्ति का सर्वप्रथम सम्बन्ध परिवार से बाहर अपनी जाति में विकसित होना आरम्भ होता है और तत्पश्चात् वह विकास समाज के विभिन्न अंगों में बढ़ता जाता है। नीतिकार जाति सम्मान को जीवन और जातियों के हृदय में अपने प्रेम और व्यवहार से जीतने में आदर्श पुरुष रहे हैं। कोई ही तो थी राम की सामाजिक में, जो वासन-वसन चुराने वाले जंगली लोग उनके प्रेमी तथा श्रृद्दालु बन गये थे। कोलो, किरातों, भीलों और वन में जीवन बिताने वाले वानरों को राम ने अपनाया ही नहीं अपितु वे राम के हाथों बिक ही गये थे। यह समर्पण भाव वन्य प्राणियों में ही नहीं उत्पन्न हुआ था। राम ने भी उनके लिए अपने को समर्पित कर दिया था। राम ने वानरों को इतना प्रेम और आदर दिया था कि जिस वृक्ष के नीचे राम लेटा करते थे उस वृक्ष की डालियों पर वानर किलोल करते थे और राम उनकी क्रीड़ाओं को देखकर आनन्दमय होते थे। गुह और केवट के प्रति राम के हृदय में अपार प्रेम है। महाकर्मिष्ठि ब्राह्मण वशिष्ठ मुनि भी निषादराज को प्रणाम करते देखकर दौड़ते हैं और गुह को उठाकर छाती से लगा लेते हैं। राम और वशिष्ठ की सामाजिकता आज के युग की सामाजिकता से किसी अंश से

कम न थी। लंका-विजय का श्रेय राम हनुमान, सुग्रीव, विभीषण, अंगद आदि को देते हैं, गुरु वशिष्ठ को उनका परिचय देते हुए कहते हैं :-

“ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहूँ बेरे॥

मय हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहुँ ते मोहि अधिक पिआरे॥⁹⁵

तुलसी के काव्य में सती-साध्वी नारियों के सम्मान अन्यत्र स्थानों पर उल्लेख मिलता है। कौशल्या, सुमित्रा, सीता, मन्दोदरी आदि सभी नारियाँ सम्मानीय हैं। तुलसी को नारी विरोधी कहकर कुछ इतिहासकारों ने एक ठिठोरा पीठ दिया है, लेकिन उसकी सही व्याख्या को समझ नहीं सके। तुलसी पार्श्विक नारी को गर्हित मानते हैं। सूर्पण खँ गर्हित है, मन्दोदरी नहीं। “तुलसी के राम नारी सम्मान के लिए पूर्णतः जागरूक हैं। केवट की नाव पर जब राम-लक्ष्मण चढ़ते हैं, तब सीता जी को पहले चढ़ाया गया। ‘लेडीज फर्स्ट’ वाली आज की सभ्यता के लिए राम मार्गदर्शक हैं।⁹⁶ तुलसी के ‘मानस’ में मैत्री-भाव का उल्लेख मिलता है जो सामाजिक नीति का प्रमुख अंग है। तुलसी ऐसे मित्र का वर्णन करते हैं जो मित्र को सच्चे रास्ते पर चलाये, गुणों को प्रकट करे, लेन-देन के समय कोई मन में शंका न करे। भृत्हरि ने भी अपने ‘नीतिशतक’ में उसी व्यक्ति को मित्र की संज्ञा से विभूषित किया है जो पाप से हटाय, हित में लगाए, मुख्य बात को छिपा रखे और गुणों को प्रकट करे तथा आपदकाल में स्थान न छोड़े और आवश्यकता के समय धन भी दे।⁹⁷ तुलसी मित्र के दुख में दुखी न होने वाले को पातकी की कोटि में गिनते हैं। वे कहते हैं-

जे न मित्र दुख होहि दुखारी। तिन्हहि विलोकत पातक भारी।

निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥⁹⁸

मित्रता की इस नीति के उदाहरण राम हैं ‘विनयपत्रिका’ में इस मित्रता की नति का अनुठा उदाहरण है- वे कहते हैं कि- “ उनका राज्य छूट गया, वनवास मिला, जानकी का हरण हुआ, लक्ष्मण मुर्च्छित हुआ, लंका का विनाश हुआ, इस प्रकार के दुख मेरे लिए रज-कण हैं और सुग्रीव का दुख मेरे लिए हिमालय के समान है।⁹⁹ भारतीय इतिहास में ऐसा मैत्रिक उदाहरण नहीं अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है, वर्तमान युग में अगर ऐसी नीतियों को अपनाकर मनुष्य चले तो, सामाजिक व्यवस्था का नया अनुरूप ही होगा। तुलसी कृत “मानस” में वर्ण व्यवस्था का उल्लेख मिलता है जो समाज की रीढ़ होती है। तुलसी को जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था स्वीकार्य नहीं है। वे तो कर्म के

आधार पर ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को स्वीकारते हैं। तुलसीदास ब्राहमण उसी को मानते हैं, जो कर्म से ब्राहमण है और जो ज्ञान के लिए समर्पित है। वेद ब्राहमण कहाने वाला यदि अपने ब्राहमण धर्म का पालन नहीं करता तो अत्यन्त शोचनीय है। गीता में भी कहा गया है 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मोभयावह'¹⁰⁰ ब्राहमण स्वभाव वाला व्यक्ति क्षत्रिय—कर्म करेगा, या क्षत्रिय स्वभाववाला ब्राहमण करेगा तो सफल नहीं होगा। अपने धर्म से हटने पर वे शोचनीय होंगे। यह अन्यत्र स्थान पर तुलसीदास ने वशिष्ठ मुनि की वाणी के माध्यम से कहलवाया है—

“ सोचिअ विप्र जो वेद विहीना। तजि निज धरमु विषय लयहीना।।¹⁰¹

“ सोचिअ बयसु कृपन धनबानू। जो न अतिथि शिव भगति सुजानू।।¹⁰²

“ सोचिअ सूद्र विप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी।।¹⁰³

अतः तुलसीदास समष्टिपरक अव्यवस्था के मूल में लिप्त वाह्य सुख—सम्पत् तथा प्रभुत्व के क्षेत्र में महत्वकाक्षाओं में लिप्त नीतिहीन अमर्यादित जीवन को समझते थे। भोग के आदर्श को केन्द्र बनाकर जिस उन्नति की अपेक्षा की जाती है उसकी सम्भाव्यता केवल प्रतियोगिता, प्रति—द्वन्द्विता, वैमनस्य और संघर्ष के अन्तराल में ही होती है। तुलसी के युग में इसी प्रकार का वातावरण ही व्याप्त था। उन्होंने समाधान खोजना चाहा और शास्त्रों के गहन अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य के व्यष्टि जीवन के सारे विभागों को धर्म के आदर्श द्वारा सुनियन्त्रित करने की व्यवस्था करने तथा समस्त वर्गों के मनुष्यों को उनके समस्त कार्यों द्वारा अध्यात्मिक सुव्यवस्था सम्भव है।

तुलसीदास भारतीय सामाजिक नीति को आचरण—प्रधान घोषित करके मनुष्य की अर्न्तवृत्तियों के उत्कर्ष पर विशेष बल देते हैं। समाज की प्रत्येक इकाई अर्थात् घटक से आत्मशुद्धि की आशा रखते हुए उससे त्याग, शील, सदभाव, सम आदि गुणों की अपेक्षा करते हैं। इससे ही मानव जाति में प्रेम, शान्ति, सौहार्द एवं ऐक्य की स्थापना हो।

आर्थिक नीति :-

मानव के विकास में अर्थ का बहुत योगदान रहता है क्योंकि उसके समस्त कार्यों की सम्पन्नता अर्थ से ही पूर्ण हो पाती है। अतः मनुष्यों को धन की आवश्यकता पड़ती है परन्तु धनार्जन के भी सद असद उपाय होते हैं। सज्जन लोग सद उपायों का ही समर्थन करते हैं। अर्थशास्त्रियों ने धनार्जन के धन के सदुपयोग के लिए नीति निध

परिचित की है। ये ही आर्थिक नीति कहलाती है। धन अर्जित करना उसका सही उपयोग करना उसको व्यर्थ में नष्ट न करना, कहाँ कितना धन व्यय किया जाये इसका ध्यान रखना आय से कम व्यय करते हुए आपत्ति के लिए धन संचय करना ये सभी बातें आर्थिक नीति के अन्तर्गत आती हैं जिनका उल्लेख अर्थशास्त्री करते रहे हैं। तुलसीदास भी आर्थिक नीति के सम्बन्ध में अपने काव्य में प्रकाश डाला है।

तुलसी का युग वैभव, ऐश्वर्य, एवं विलास का युग था। वैभव की दृष्टि से मुगल-साम्राज्य मध्य युग का सबसे वैभवशाली साम्राज्य माना जाता था। उस समय समाज में आर्थिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से मुख्यतः दो वर्ग थे- एक वैभवशाली शासक वर्ग जिसमें मुसलमान और हिन्दू दोनों ही जातियों के सत्ताधारी लोग शामिल थे। इनमें समस्त ऐश्वर्य का आधार धर्म न होकर प्रायः अधर्म था। वैभवशाली वर्ग अत्यन्त ही वैभवशील एवं लौकिक था, जो जनता का पूर्ण रूप से शोषण करता था। दूसरा वर्ग सामान्य जनता का था जो अत्यन्त निर्धन एवं असंगठित होने के कारण सत्ताधारी वर्ग के अत्याचारों का शिकार होता रहता था। अधिकांश लोग यही थे जिनके सम्बन्ध में वरनी ने भी लिखा है- " बड़े-बड़े चौधरियों की पत्नियों को निर्धनता के कारण मुसलमानों के घरों में सेवावृत्ति करनी पड़ती थी।¹⁰⁴ डा० युसुफ हुसैन ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है- "गाँव व नगरों में रहने वाले निम्न श्रेणी के लोगों तथा किसानों की स्थिति ऐसी ही थी जैसी आधुनिक समय में है। वे प्रायः छप्पर की झोंपड़ियों में रहते थे।¹⁰⁵ विदेशी यात्री सर टॉमस रो ने ग्रीमणों के संदर्भ और बादशाह सबको लूटता था।¹⁰⁶

इस प्रकार मुस्लिम शासकों की सामन्तवादी मनोवृत्ति तथा कुत्सित नीति के दुष्परिणाम स्वरूप प्रजा का आर्थिक जीवन क्षय ग्रस्त तथा विपन्न हो गया था। तुलसी इस बात से पूर्णतया परिचित थे कि वैभव ही विलास का जनक है और विलास और अराजकता का। इसी हेतु उन्होंने धन को ही सम्पूर्ण सामाजिक विषमताओं का मूल कारण मानकर उसी को "उत्तम धन" कहा है जो परोपकार और दान आदि सत्कर्मों में लगे 'कवितावली' में तुलसीदास जी ने ऐसे धन्य को उत्तम कहा है-

'सो धन धन्य प्रथम गति जा की।'¹⁰⁷

तुलसीदास जी ने लौकिक दृष्टि से वैभव का विरोध करके सादा निस्पृह तथा वैराग्यमय जीवन-प्रणाली का समर्थन करते हुए उन्होंने सामाजिक वैषम्य की निवृत्ति

मूला तथा उदार गुण-सम्पन्न लोक-व्यापी अर्थनीति का सूत्रपात किया है जिसका आदर्श भारत की प्राचीन आदर्श संस्कृति में मिल जाता है।

भारतीय संस्कृति में सात प्रकार की सम्पत्ति वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में वैध मानी जाती है। मनु स्मृतिकार ने इस प्रकार से प्रतिपादित किया है—“दया, लाभ, जय, प्रयोग, कर्मयोग, तथा सत्यप्रतिग्रह से प्राप्त वित्त ही धर्मानुकूल अर्जित वित्त माना जाता है।¹⁰⁸

वृहदारण्यकोपनिषद में तो यहाँ तक कहा गया है कि “ धर्म पर राजा का भी शासन नहीं अपितु राजा पर धर्म का शासन चलता है।”¹⁰⁹ छन्दोग्य उपनिषद में आर्थिक सुव्यवस्था का उत्तम सुचारु रूपेण चित्रण मिलता है— एक राजा अपने राज्य का वर्णन करते हुए कहा है कि— “मेरे जनपद में न तो कोई चोर है, न कृपण और न ही कोई मद्यप ही है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो अग्निष्टोम न करता हो और न ही कोई न ही कोई मुख और स्वेच्छाचारी नारी कैसे हो सकती है।”¹¹⁰ तुलसीदास जी समय में यवन शासकों का साम्राज्य था। मुसलमानों शासकों की संकीर्ण भावना तथा अर्थ-लिप्सा से भारतीय अर्थनीति का मूलाधार उपकार्य- उपकारक भाव तथा प्रेम-सूत्र का लोप ही चलाया बल्कि भूमिपति स्वयं धनापहारक बन गये थे। धनाढ्य और क्षेत्रहर इन इन्हीं आतातियों का वातावरण था जिनके अत्याचारों का वर्णन तुलसीदास जी ने अपनी रचना ‘कवितावली’ के माध्यम से इस प्रकार की है—

**वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए,
साधु सीध मान जानि रीति पाप पीन की।
दूसरे को दूसरो न द्वार, राम दया धाम,
शबरी ऐ गति बल-विभव विहीन की।¹¹¹**

इस प्रकार वेद मार्ग कोई चलने वाला नहीं, सब मनमानी करते हैं, राजा प्रजा के रक्षक न होकर भक्षक हो गए, अर्थात् चारों ओर अराजकता फैली हुई है। रावण के राज्यकाल में भी इसी प्रकार के खल-समुदाय का बाहुल्य था जिनके अत्याचारों से समाज में अर्थव्यवस्था विश्रंखलित हो चुकी थी— जिसका सजीव वर्णन तुलसी ने अपनी रचना ‘रामचरित्रमानस’ में किया है।

बाढ़े खल बहु चोरा जुआरा। जे लंपट पर धन परदारा।¹¹²

अर्थव्यवस्था की विश्रंखलता का वर्णन ‘कवितावली’ में तुलसी ने इस प्रकार

किया है—“राहगीरों को मारकर, ब्राहमणों की हत्या करके और भी करोड़ों बुरे मार्गों का अवलम्बन करके (जिन्होंने) धरहरण किया, यह बात परीक्षा की हुई है कि शंकर के कोप से उनकी कमाई हृदय जलाकर नष्ट हो जायेगी। काशी में जितने कंटक हुए, अपने किये का भरपूर फल पाकर नष्ट हो गये। ऐसे लोग जड़ हैं जो दीवाली का दीपक चाटकर आज या कल अथवा परसों या चौथे कभी न कभी अवश्य नष्ट हो जायेंगे।”¹¹³

राजाओं की इस भयानक अर्थलिप्सा के कारण मचाई हुई लूटमार, अन्याय, अत्याचार, तथा छीना छपटी के कारण सामाजिक अर्थव्यवस्था का ढाँचा इतना खोखला हो चुका था कि प्रजा का अर्थिक जीवन रूपी चन्द्रमा राजाओं की दानवी प्रवृत्ति रूपी राहु द्वारा ग्रसमान होकर अकर्मयता, अविवेक तथा असंतोष को फैलाकर बेरोजगारी, भुखमरी तथा निराशा का प्रसार कर रहा था। इस प्रकार के मुनजादों की शोषक-मनुवृत्ति और सामन्तशाही प्रवृत्ति ने अरक्षित एवं असहाय जनता के मर्मस्थल को जो आहत करने की भरसक चेष्टा की उससे क्रान्तदर्शी, लोकनायक, सन्तशिरोमणि तुलसीदास को भी वर्णनातीत पीड़ हुई, जिससे उन्होंने जनता का प्रतिनिधत्व करते हुए राम के आदर्श रूपी राज्य को जनता के समक्ष रखा—“राम के राज्यकाल में आधि, व्याधि, जरा, ग्लानि, दुख, शोक, भय, क्लान्ति तथा मृत्यु के बिना इच्छा के नहीं मिलती थी।”¹¹⁴ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रामराज्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है—‘ आदर्श राज्य की यही विशेषता होती है कि वह हृदय को स्पष्ट करने वाला हो, वह लोक रक्षा के अनुकूल भावों की प्रतिष्ठा करने वाला हो, वही धर्म राज्य है। यह राज्य केवल चलती हुई जड़ मशीन नहीं है। आदर्श व्यक्ति का परिवर्धित रूप है। राजा-प्रजा के सुख-दुख का साथी होता है, ईश्वरांश माने जाने पर भी मनुष्यांश नहीं छोड़ता। वह प्रजा के जीवन से दूर बैठा हुआ उसमें किसी प्रकार का योग न देने वाला खिलौना या पुतला नहीं है। प्रजा अपने सब प्रकार के उच्च भावों का, त्याग का, शील का, पराक्रम का, सहिष्णुता का, क्षमा का प्रतिबिम्ब उसमें देखती है।’¹¹⁵

इस प्रकार अर्थनीति में तुलसीदास तृष्णा का नाश और संतोष का विकास चाहते हैं। असंतोषी तथा आवश्यकता से अधिक संग्रह करने वाले व्यक्ति को ‘भागवत’ में स्तेन की पदवी देते हुए कहा है कि “उदर भरने मात्र के लिए पर्याप्त धन से अधिक धन पर अधिकार स्थापित करने वाला व्यक्ति चोर होने के कारण दण्डनीय होता है।”¹¹⁶

अतः निष्कर्षतः तुलसीदास जी ने कुत्सित अर्थनीति के परिणामस्वरूप जनता का

क्षयग्रस्त तथा दुखी जीवन देखकर स्वार्थ पूर्ण ऐहिक विषयपरक अर्थनीति के स्थान पर समष्टिपरक मानववादी विशाल अर्थनीति का सूत्रपात किया, जिसका आधार प्राचीन आध्यात्मिक चेतना तथा सर्वभूति हतेरतः की उदान्त भावना थी। राम से जितेन्द्रिय सत्यनिष्ठ, सदाचारी, धर्म नियन्त्रित चक्रवर्ती सम्राट के निष्पक्ष शासन में यदि सम्पूर्ण विश्व में शान्ति की भागीरथी का प्रवाह बिना बहे, छीना झपटी में निरोध हो, सभी प्राणी सुखी-सम्पन्न तथा संतोषी हों तथा एक दूसरे के प्रति-प्रेम भावना के प्रसार के पक्षपाती हों तो इसमें क्या आश्चर्य हो सकता है। आधुनिक युग के महान नायक महात्मा गाँधी भी इसी रामराज्य की कल्पना किया करते थे जिसमें समस्त प्राणी अपने विश्वास के अनुसार अपने धर्म का पालन करें, अपनी शक्ति तथा बुद्धि के अनुसार अर्थोपार्जन करें, अपनी कमाई निजेच्छानुसार प्रयोग में ला सकें। कोई भी किसी के धर्म तथा धन पर हमला न करे, सभी उन्नत एवं सुखी हों। तुलसी काव्य के अनुसार अर्थनीति का उत्तम सिद्धान्त यह है कि परार्थ ही अपना स्वार्थ माना जाये, जबकि मध्यम सिद्धान्त यह होता है कि स्वार्थ के अवरोध से परार्थ को अपनाया जाये।

निष्कर्ष :-

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि तुलसी के काव्य में धर्म और नीति का विविध रूप में चित्रण हुआ है उनको भारतीय संस्कृति से विशेष अनुराग रहा है। अतः भारतीय संस्कृति में विद्यमान धार्मिक मान्यताएँ एवं नीतियाँ उनके रचनाओं में यत्र तत्र उजागर होती रही हैं। धार्मिक मान्यताओं में ईश्वर में विश्वास, पूजा, अर्चना, मन्दिर, गगन, तीर्थाटन, यज्ञ, देवी देवताओं की आराधना आदि का चित्रण एवं धार्मिक आस्थाओं के साथ-साथ मानव जीवनोपयोगी अनेक नीतियों का चित्रण इनकी प्रमुख रचनाओं में हुआ है। जैसे सत्य, अहिंसा, परोपकार, सामाजिक, पारिवारिक नीति, आर्थिक नीति एवं राजनीतिक तत्वों का विवेचन इनके काव्य में किया गया है। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि तुलसी के काव्य में मानवोपयोगी धर्म एवं नीतियों का व्यवहारिक दृष्टि से चित्रण हुआ है।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. डॉ० शकुन्तला रानी- महाभारत में धर्म, पाटल प्रकाशन, बालूगंज आगरा, 1970, पृ० 113
2. अथर्ववेद , अनुवादक सायन भाष्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 2030, 12/5/7
3. कणाद- वैशेषिक सूत्र 1/12
4. शिवदत्त ज्ञानी- भारतीय संस्कृति, पृ० 202
5. मनु स्मृति- अनु० सुरेन्द्र कुमार, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली, 2006, 6/92/285
6. डॉ० शकुन्तला रानी- महाभारत में धर्म, पृ० 134 पर उद्धृत
7. श्रीमद् भागवत गीता , अनुवादक- माधवराव, गीता प्रेस गोरखपुर, सं० 2035, 6/1/50
8. तुलसीदास-रामचरित्रमानस, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 2029 लंकाकाण्ड, 6/80/2/9
9. भागवत पुराण अनुवादक- हरिदत्त शर्मा गीताप्रेस गोरखपुर, 6/8/12
10. व्यास-महाभारत, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 2039, 2/117
11. आचार्य हजारीप्रसाद-द्विवेदी 'मनुष्य की साहित्य का लक्षण है' पृ० 129
12. कणाद, वैशेषिक दर्शन, 1/1/2
13. डॉ० चरणदास शर्मा- तुलसी के काव्य में नैतिक मूल्य, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली 1971, पृ० 182
14. तुलसीदास रामचरित्रमानस, किष्किन्धा काण्ड, 9/5
15. भागवत गीता- अनुवादक हनुमान पोद्दार, भागवत गीता प्रेस गोरखपुर, 2032, 4/8
16. डॉ० रतनचन्द्र शर्मा, मुगलकालीन सगुण भक्ति काव्य का सांस्कृतिक विश्लेषण , जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर, 1979, पृ० 232 पर उद्धृत
17. तुलसीदास, अयोध्या काण्ड, 9/4
18. वही, उत्तरकाण्ड, 90/2
19. वही, 2/2/168

20. वही, 7/49/130
21. व्यास- गीता रहस्य, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 2038, पृ० 95
22. तुलसीदास- रामचरित्रमानस, उत्तराकाण्ड, 41/1
23. वही, 121/11
24. वही, 8/4/107
25. वही, 8/5/24
26. वही, 7/5/29
27. डॉ० सरोज गुप्ता, रामचरित्रमानस की सूक्तियों का विवेचनात्मक अध्ययन, रामबहोरी शुक्ल, इलाहाबाद, 1988, पृ० 118
28. तुलसीदास-रामचरित्रमानस, उत्तराकाण्ड, 7/1
29. डॉ० वचन देव कुमार- तुलसी साहित्य और विवेचनात्मक मूल्यांकन, नेशनल पब्लिसिंग, हाउस दिल्ली, 1981, पृ० 72
30. डॉ० शुधा रानी- महाभारत में नारी, हरिकृष्ण अवस्थी, विद्यामंदिर, रानी कटरा, लखनऊ, 1987, पृ० 79
31. तुलसीदास- रामचरित्रमानस, 17/15
32. वही, दोहा, अयोध्याकाण्ड, 92/165
33. श्री रामनरेश त्रिपाठी, तुलसी काव्य चिंतन, देव प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1998, पृ० 100 पर
34. वही, पृ० 102 पर उद्धृत
35. तुलसीदास-कवितावली, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 2035, पृ० 3/28
36. वही, 5/14/
37. तुलसीदास-गीतावली, 1/30/32
38. तुलसीदास- रामचरित्रमानस, 1/63/4

39. वही, अयोध्याकाण्ड, 1/23/235
40. वही, अयोध्याकाण्ड, 12/35
41. तुलसीदास-विनयपत्रिका, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 2036, 1/42
42. तुलसीदास-गीतावली, 1/12
43. हलायुद्ध कोश, पृ० 544
44. तुलसीदास- रामचरित्रमानस बालकाण्ड, 6/60/3
45. वही,, 1/3/185
46. वही, बालकाण्ड, 7/178
47. वही, अयोध्याकाण्ड, 5/132
48. वही,लंकाकाण्ड, 75/7/777
49. डॉ० रतनचन्द्र शर्मा- मुगलकालीन सगुण भक्ति काव्य का सांस्कृतिक चित्रण, जयपुर, पुस्तक सदन, जयपुर, सं० 1978,पृ० 246 उद्धृत।
50. आदिपुराण, अनुवादक- जिनसेनकृत, 4/8
51. हलायुद्ध कोश, पृ० 334
52. मनुस्मृति, 3/130
53. आदिपुराण, 5/7/12
54. डॉ० शकुन्तला रानी - महाभारत में धर्म, पृ० 464 पर उद्धृत
55. महाभारत, वनपर्व, 88/23
56. तुलसीदास- रामचरित्रमानस, 2/1/105
57. वही,बालकाण्ड, 2/3/204
58. वही, 6/26,
59. वही, 9/165
60. तुलसीदास-दोहावली, दोहा 236,पृ० 150

61. पाणिनी— अष्टाध्यायी, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, सं० 1962, 3/3/94
62. डॉ० सुखदेव शुक्ल— हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता, पृ० 31
63. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा— हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमण्डल बनारस, सं० 1987, पृ० 353
64. डॉ० दीनदयाल गुप्त— 'हिन्दी साहित्य के मध्य युग की नीति और विवेक परम काव्य, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, सं० 1994, पृ० 320
65. 'ज्ञा तथा चतुर्वेदी— ' संस्कृत शब्दार्थ कैस्तुम' मोतीलाल, बनारसीदास, सं० 1984, पृ० 6
66. महाभारत, पृ० 7/3/1087
67. चरणदास शर्मा— तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य, पृ० 37 पर उद्धृत।
68. डॉ० राधाकृष्ण— पूर्व और पश्चिम साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ० 23
69. महाभारत, 6/59
70. वही, 7/61/1186
71. अर्थशास्त्र अनुवादक—वाचस्पति गैरोला, पृ० 5/3/36
72. मुण्डकोनिषद— सं० वि० प्र० लिमये वैदिक संसोधन मण्डल, पूना, पृ० 8/178/5
73. बाल्मीकि रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर, 2/14/3/7
74. तुलसीदास रामचरित्रमानस, अयोध्या काण्ड, 3/5/95
75. महाभारत, पृ० 145
76. मनुस्मृति, अनुवादक— सुरेन्द्र कुमार, 5/45
77. यजुर्वेद मेडिकल हाउस, बनारस, 2/30
78. महाभारत, अनुशासन पर्व, 116/30
79. डॉ० के० सी० श्रीवास्तव— प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, पृ० 821 उद्धृत
80. श्रीमद् भागवत गीता— अनुवादक जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 2037, 4/13

81. तुलसीदास, उत्तरकाण्ड 5/13
82. वही, किष्किन्धा काण्ड, 15/7/145
83. गीता, 6/29/10/20
84. मनु स्मृति, 12/1/18
85. महाभारत, 5/95
86. डॉ० चरणदास शर्मा— तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य, पृ० 184
87. वही, पृ० 185—86 उद्धृत
88. तुलसीदास—रामचरित्रमानस, 3/102/1
89. वही, लंकाकाण्ड, 6/24
90. वही, अयोध्याकाण्ड 10/14
91. डॉ० चरणदास शर्मा— तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य, पृ० 194
92. वही, पृ० 195 उद्धृत
93. डॉ० सरोज गुप्ता— रामचरित्रमानस की सूक्तियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० 49, उद्धृत
94. तुलसीदास— रामचरित्रमानस, अयोध्याकाण्ड, 3/149/1
95. वही, उत्तरकाण्ड 8/68
96. डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन— तुलसी काव्य चिन्तन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, सं० 1989, पृ० 132 उद्धृत
97. भर्तृहरि—नीतिशतक भागवत पुस्तकालय वाराणसी, पृ० 432
98. तुलसीदास— रामचरित्रमानस, 7/390/2
99. डॉ० सरोज गुप्ता, विनयपत्रिका की सूक्तियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० 305
100. भगवत गीता, 3/35
101. तुलसीदास—रामचरित्रमानस, अयोध्याकाण्ड 5/187/4

102. वही, 6/189
103. वही, 7/190
104. डॉ० ईश्वरी प्रसाद, भारतवर्ष का इतिहास, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1999, पृ० 364
105. डॉ० के०एल० खुराना— भारत का सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 48
106. वही, 49 पर उद्धृत
107. तुलसीदास—कवितावली ,पृ० 153/179
108. मनु स्मृति, 10/115
109. बृहदारण्यकोपनिषद् , 5/110/5
110. वही, 6/120/5
111. डॉ० चरणदास शर्मा— तुलसी के काव्य में नैतिक मूल्य, पृ० 279 पर उद्धृत
112. तुलसीदास— रामचरित्रमानस, 5/12/7
113. तुलसीदास—कवितावली ,पृ० 153/179
114. डॉ० हरकिशन शास्त्री— गोस्वामी तुलसीदास: लोकनीति और मर्यादावाद, इण्डियन प्रेस प्रयाग, 1982, पृ० 105
115. डॉ० रामचन्द्र शुक्ल— गोस्वामी तुलसीदास , का०ना०प्र०सं० काशी, 1980,पृ० 45
116. रामबहोरी शुक्ल— तुलसी, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1976 ,पृ० 56 पर उद्धृत